वीतरागता के विशिष्ट उपासक

□ श्री सम्पतराज डोसी

समता के साधक एवं वीतरागता के उपासक :

स्वर्गीय आचार्य प्रवर उन विरले संत-साधकों में से थे जो इस रहस्य को भली भांति मात्र जानते अथवा मानते ही नहीं पर जिन्होंने आचरण एवं अनुभूति के स्तर पर यह सिद्ध किया कि अहिंसा, अपरिग्रह एवं अनेकांत अथवा सारे धर्म का मूल आधार या जड़ समता एवं सम्यग्दर्शन है और धर्म अथवा साधना की पूर्णता वीतरागता प्राप्त होने पर ही हो सकती है । समता अथवा सम्यग्दर्शन का भी ऊपरी व व्यावहारिक अर्थ सुदेव-सुगुरु-सुधर्म पर श्रद्धा, विश्वास या आस्था रखना होता है पर गूढ़ एवं निश्चय-परक अर्थ तो स्व-पर का अर्थात् जीव-अजीव का अथवा आत्मा एवं देह के भेद-विज्ञान की अनुभूति और वह भी आगे बढ़ कर आत्मा के स्तर पर होने पर ही होता है । मुंह से तो सामान्य व्यक्ति भी कह सकता है कि आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है । शरीर नाशवान है और आत्मा अजर-अमर है । पर जब तक मरने का भय मिटता नहीं तब तक आत्मा को अजर-अमर मानने या कहने का विशेय अर्थ नहीं रह जाता ।

भेद-विज्ञानी एवं मोह के त्यागी :

दस वर्ष जैसी अल्पायु में संयम-पथ को ग्रहण करना, सोलह वर्ष की आयु में आचार्य पद के गुणों को धारण कर लेना आदि इस महापुरुष के पूर्व जन्म में की हुई साधना के संस्कारों का ही फल समझा जा सकता है । पूर्ण युवा वय में 'मेरे अन्तर भया प्रकाश' एवं 'मैं हूँ उस नगरी का भूप' जैसी आत्म-स्पर्शी रचनाएँ उनके भेद-विज्ञान की ही स्पष्ट झलक देती हैं । संघ एवं सम्प्रदाय में रहते हुए भी वे असाम्प्रदायिक भावना वाले ही थे । इसी के फल-स्वरूप मात्र स्थानकवासी परम्पराओं के ही नहीं बल्कि अन्य परम्पराओं के अनुयायियों के हृदय में भी आपके प्रति श्रद्धा एवं भक्ति विद्यमान थी ।

जैन धर्म का विशेष ज्ञान रखने वाले विद्वान् जानते हैं कि हिंसा, झूठ, चोरी आदि सतरह पापों का मूल मात्र एक अठारहवां पाप मिथ्या दर्शन शल्य है । यह पाप मोह कर्म की मिथ्यात्व मोहनीय नाम प्रकृति के फल-स्वरूप

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

होता है । मिथ्यात्व मोह की गांठ गले बिना सम्यग्दर्शन हो नहीं सकता और बिना सम्यग्दर्शन के सारा ज्ञान एवं सम्पूर्ण क्रिया बिना एक की बिंदियों के माफिक है । बिना मोह की अथवा राग-द्वेष की कमी के न कोई पुण्य होता है और न धर्म ही । धर्म के विषय में अनेक भ्रांतियां समाज में घर कर गई हैं । सबसे बड़ी भ्रांति धर्म के फल को परलोक से जोड़ने की है । इसी प्रकार धन, कुटुम्ब, निरोगता, यश आदि का मिलना धर्म का फल समझा जाने लग गया । धर्म को एक स्थान विशेष में, समय विशेष में करने की क्रिया मान लिया गया और सारे धर्म का सम्बन्ध जीवन से कट गया । जबकि सच्चाई तो यह है कि धर्म शांति से जीवन जीने की कला है और उसका फल जिस प्रकार भोजन से भूख और पानी से प्यास तुरन्त बुझती है, इसी प्रकार धर्म से तत्काल शांति मिलती है ।

स्व० आचार्य श्री ने ऐसी भ्रांत धारणाओं को मिटाने हेतु तथा धर्म और समता को जीवन का अंग बनाने हेतु पहले स्व के अध्ययन, ज्ञान हेतु स्वाध्याय और फिर उस आत्म-ज्ञान को जीवन में उतारने हेतु समता भाव की साधना रूप सामायिक पर विशेष जोर दिया । स्वाध्याय और सामायिक की आवश्यकता और उपयोगिता को तो समाज ने समझा और इसके फलस्वरूप स्वाध्यायियों एवं साधकों की संख्या तो जरूर बढ़ी परन्तु अधिकांश स्वाध्यायी एवं साधक भी इनका ऊपरी अर्थ ही पकड़ पाये । मात्र धार्मिक पुस्तकों, ग्रन्थों, सूत्रों आदि को पढ़ लेना अथवा सुन लेना या सुना देना तक को ही स्वाध्याय समझ लिया और इसी प्रकार सामायिक भी स्थानक, समय या वेश की सीमा तक ही ज्यादातर सीमित होकर रह गई । समता भाव को स्वाध्यायियों, साधकों अथवा संत-सती वर्ग में से भी अधिकांश के जीवन का अंग बना पाने का आचार्य श्री का स्वप्न पूरा साकार न हो सका । मेरे जैसों को उन्होंने अनेक बार फरमाया कि मैं स्वाध्यायियों या साधकों की संख्यात्मक वृद्धि से सन्तुष्ट नहीं हूँ और तुम्हें भी इस पर सन्तोष नहीं करना चाहिये । समाज का सुधार तो तभी हो सकेगा जब इन स्वाध्यायियों, साधकों आदि का जीवन समतामय बनेगा ।

हमारी सच्ची श्रद्धांजलि मात्र उनके नारों को शब्दों से गुंजाने में ही नहीं वरन् स्वाध्याय के असली स्वरूप को अपना कर एवं समता व सामायिक को जीवन का अंग बना कर स्वयं तथा समाज को सुधारने के प्रयास करते रहने पर ही समझी जा सकती है ।

—संयोजक, स्वाध्याय संघ, घोड़ों का चौक, जोधपुर

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org